नमो वीतरागाय ।

उभयभाषाकविचक्रवर्ती श्रीमल्लिषेण विरचित

सज्जनचित्तवल्लभ ।

भाषापद्यानुवाद और ~~अर्थ~~

भावार्थ सहित

जिसे

बम्बईके

श्रीजैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालयने

तेलगु प्रेसमें मुद्रित कराकर प्रकाशित किया ।

श्रीवीर नि० संवत् २४३८ फरवरी सन् १९१२ ई०

प्रथमावृत्ति] [मूल्य दो आना ।

Published by
Shri Nathuram Premi
Proprietor
Shri Jain Granth Ratnakar Karyalaya
Hirabag, Near C. P. Tank, Bombay.

Printed by
Erranna Shivaya Banpel
Printer Telagu Press
9th Kamathipura Bombay.

प्रकाशकका निवदेन ।

लगभग २० वर्ष पहिले इस ग्रन्थका एक संस्करण प्रकाशित हुआ था, तबसे अबतक कोई अच्छा संस्करण प्रकाशित न हुआ देखकर और ग्रन्थको बहुत उपयोगी समझकर हमने इसका प्रकाशित करना उचित समझा । इसमें जो एक पद्यानुवाद है, वह सुनपतनिवासी स्वर्गीय पं० मिहरचन्दजीका बनाया हुआ है और भावार्थ उन्हींकी भाषाटीकापरसे कुछ न्यूनाधिक तथा संस्कारित करके लिखा है । और दूसरा पद्यानुवाद कांधलानिवासी यति नयनसुखजीका बनाया हुआ है । यह मूलके भावोंको लेकर स्वतंत्रतापूर्वक रचा गया है ।

देवरी (सागर)
कार्तिक शुक्ला १३
श्रीवीर नि० सं० २४३८

प्रार्थी-
नाथूराम प्रेमी

महाकवि मल्लिषेणका परिचय।

इस छोटेसे ग्रन्थके कर्ताका नाम **मल्लिषेण** है। मल्लिषेण नामके पहिले बहुतसे आचार्य हो गये हैं, और उनमेंसे बहुतसे ऐसे हैं जिन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना भी की है।[1] हम जिन मल्लिषेणके विषयमें लिखना चाहते हैं, उनसे कुछ ही वर्षों पीछे एक मल्लिषेण नामके दूसरे आचार्य हो गये हैं, जो पहिले मल्लिषेणकी ही श्रेणीके विद्वान् थे। इस थोड़ेसे अन्तरके कारण अभीतक बहुत लोग दोनोंको एक ही समझते थे। परन्तु अब यह भ्रम दूर हो गया है। पहिले मल्लिषेण **उभयभाषाकविचक्रवर्तीके** पदसे सुशोभित थे और दूसरे **मलधारिन्**[2] पदसे युक्त थे।

उभयभाषाकविचक्रवर्ती मल्लिषेणने महापुराणकी प्रशस्तिमें अपना परिचय इस प्रकार दिया है:—

तीर्थे श्रीमुलगुन्दनाम्निनगरे श्रीजैनधर्मालये
स्थित्वा श्रीकविचक्रवर्तियतिपः श्रीमल्लिषेणाह्वयः।
संक्षेपात्प्रथमानुयोगकथनव्याख्यान्वितं शृण्वतां
भव्यानां दुरितापहं रचितवान्निःशेषविद्याम्बुधिः॥

वर्षैकत्रिंशताहीने सहस्रे शकभूभुजः।
सर्वजित्वत्सरे ज्येष्ठे सशुक्लेपञ्चमीदिने॥
अनादितत्समाप्तं तु पुराणं दुरितापहम्।
जीयादाचन्द्रतारार्कं विदग्धजनचेतसि॥

---

१ स्याद्वादमंजरीके कर्त्ताका नाम भी मल्लिषेण ही है, परन्तु वे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हुए हैं। २ इस पदका अर्थ समझमें नहीं आता और भी दो एक विद्वान् इस पदसे शोभित रहे हैं, जैसे कि मलधारि-श्रीराजशेखरसूरि।

श्रीजिनसेनसूरितनुजेन कुदृष्टिमतप्रभेदिना ।
गारुडमंत्रवादसकलागमलक्षणतर्कवेदिना ॥
तेन महापुराणमुदितं भुवनत्रयवर्तिकीर्तिना ।
प्राकृतसंस्कृतोभयकवित्वधृता कविचक्रवर्तिना ॥

इन श्लोकोंसे मालूम होता है कि, महाकवि **मल्लिषेण** संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके महाकवि थे–कवियोंके चक्रवर्ती थे, व्याकरण, न्याय, आगम, गारुड मंत्रवाद आदि सब विषयोंके ज्ञाता थे, बड़े २ मिथ्यादृष्टियोंको उन्होंने पराजित किया था और सब ओर उनकी कीर्ति फैल रही थी। शक संवत् ९६९ की ज्येष्ठ सुदी ५ को उन्होंने **मूलगुंद** नामक तीर्थके जिनमन्दिरमें अथवा वसतिकामें महापुराणको समाप्त किया था। यह **मूलगुंद** नामका ग्राम अब भी है और **धारवाड** जिलेके **गदग** तालुकामें उसकी गणना की जाती है। पहिले शायद यह स्थान बहुत प्रसिद्ध रहा होगा, परन्तु अब नहीं है। उन्होंने आपको **श्रीजिनसेनसूरि**का पुत्र बतलाया है। इससे जान पड़ता है कि, गृहस्थजीवनमें जो इनके पिता होंगे, पीछेसे उन्होंने दीक्षा ले ली होगी और मुनिजीवनमें उनका नाम **जिनसेन** रक्खा गया होगा। जिनसेन नामके भी कई आचार्य हो गये हैं, इससे यह पता लगाना कठिन है कि, इनके पिता कौन थे। **आदिपुराण**के कर्त्ता **भगवज्जिनसेन**का समय शक संवत् ७६५ तकका निश्चय हो चुका है, और **हरिवंशपुराण**के कर्त्ता **जिनसेन**ने हरिवंशपुराण शक संवत् ७०५ में समाप्त किया है, सो उक्त दो जिनसेन तो मल्लिषेणके पिता हो नहीं सकते हैं, क्योंकि इन दोनोंसे मल्लिषेणका समय दो सौ वर्ष पीछे है, अतः इनके पीछे होनेवाले कोई तीसरे ही जिनसेन इनके पिता होंगे।

मल्लिषेणकृत महापुराण बहुत छोटा है। केवल दो हजार श्लोकोंमें उसकी संक्षेपतः रचना की गई है। परन्तु ग्रन्थ बहुत सुन्दर है और

उसमें अनेक विषय ऐसे आये हैं जो दूसरे ग्रन्थोंमें नहीं है। इसकी एक प्रति कोल्हापुरके भट्टारक **लक्ष्मीसेन**जीके मठमें प्राचीन कनडी लिपिमें ताड़पत्रोंपर लिखी हुई है। उसपर इस बातका उल्लेख नहीं है कि, वह कब लिखी गई है। श्रवणबेल्गुलके **ब्रह्मसूरिशास्त्रीके** भंडारमें भी शायद उसकी एक प्रति है।

'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' ने इसमें सन्देह नहीं कि, अनेक ग्रन्थोंकी रचना की होगी, परन्तु अभीतक उनके सिर्फ तीन ही ग्रन्थोंका पता लगा है, एक **महापुराण** जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है, दूसरा **नागकुमारकाव्य** और तीसरा **सज्जनचित्तवल्लभ**। ये तीनों ग्रन्थ संस्कृतमें हैं, प्राकृतमें अभीतक आपका कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है, परन्तु होगा अवश्य। क्योंकि आपने अपनेको संस्कृतके समान प्राकृतका भी कवि कहा है। प्रवचनसारटीका, पंचास्तिकायटीका, ज्वालिनीकल्प, पद्मावतीकल्प, वज्रपंजरविधान, ब्रह्मविद्या और आदिपुराण ये ग्रन्थ भी मल्लिषेणाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि, उनमेंसे उभयभाषाकविचक्रवर्तीके रचे हुए कौनसे हैं, और दूसरोंके कौनसे।

नागकुमारकाव्य[1] एक छोटासा पंचसर्गात्मक काव्य है, और ५०७ श्लोकोंमें पूर्ण हो गया है। यद्यपि इस ग्रन्थमें कर्त्ताने अपनी प्रशस्ति नहीं दी है और प्रारंभमें एक जगह अपने मल्लिषेण नामके सिवाय कुछ भी नहीं लिखा है, तो भी प्रत्येक सर्गके अन्तमें **इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिश्रीमल्लिषेणसूरिविरचितायां श्रीनागकुमारपञ्चमीकथायां** इत्यादि लिखा हुआ है, जिससे जाना पड़ता है कि, महापुराणके कर्त्ता मल्लिषेणने ही इसकी रचना की है। इस काव्यके प्रारंभमें लिखा है कि —

---

१ बाहुबलिनामके कविने इस काव्यका अनुवाद कानड़ी भाषामें शक संवत् १५०७ में किया है।

कविभिर्जयदेवाद्यैर्गद्यैर्पद्यैर्विनिर्मितम् ।
यत्तदेवास्ति चेदत्र विषमं मन्दमेधसाम् ॥
प्रसिद्धैसंस्कृतैर्वाक्यैर्विद्वज्जनमनोहरम् ।
तन्मया पद्यबन्धेन मल्लिषेणेन रच्यते ॥

इससे मालूम होता है कि, मल्लिषेणके पहिले **जयदेव** नामक किसी कविका बनाया हुआ कोई नागकुमारकाव्य था, जो गद्यपद्य-मय (चम्पू) था। परन्तु वह कठिन था, इसलिये मल्लिषेणने इससे सरल और प्रसिद्ध संस्कृतमें बनाना उचित समझा। वास्तवमें यह काव्य बहुत सरल है और साधारण संस्कृत पढ़े हुए इसे सहज ही समझ सकते हैं।

यह **सज्जनचित्तवल्लभ** केवल २५ शार्दूलविक्रीडित श्लोकोंका छोटासा काव्य है। इसमें मुनियोंको बहुत ही प्रभावशाली शब्दोंमें उपदेश दिया है कि, तुम अपने चरित्रको निर्मल रक्खो, ग्रामके समीप मत रहो, स्त्रियोंसे सम्बन्ध मत रक्खो, परिग्रह धनादिकी आकांक्षा मत करो, भिक्षामें जो रूखा सूखा भोजन मिले, उससे संतोषपूर्वक पेट भर लो, और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके अपने यति नामको सार्थक करो। इस छोटेसे ग्रन्थके पाठ करनेसे अनुमान होता है कि, श्रीमल्लिषेणाचार्यको अपने समयके मुनियोंको शिथिलाचारमें प्रवृत्त देखकर बड़ी चोट लगी थी। उनके हृदयकी वह चोट सज्जनचित्तवल्लभके कई श्लोकोंसे स्पष्ट व्यक्त होती है। इसमे सन्देह नहीं कि, वे बड़े दृढव्रती और विरक्त मुनि होंगे, परन्तु उस समयके सब मुनि ऐसे नहीं होंगे। उनमें अवश्य ही शिथिलाचारकी प्रवृत्ति होने लगी होगी। भट्टारकोंकी उत्पत्ति भले ही बहुत पीछे हुई हो, परन्तु उनका बीज उनसे कई सौ वर्ष पहिले हमारे मुनिसमाजमें पड़ चुका होगा।

दूसरे मल्लिषेण आचार्य जिनकी कि **'मलधारिन्'** पदवी थी और जिनका उल्लेख इस लेखके प्रारंभमे किया गया है, शक संवत १०५० की फाल्गुण कृष्ण तृतीयाको श्वेतसरोवरमें (श्रवणबेलगुलमें) समाधिस्थ हुए थे, ऐसा मल्लिषेणप्रशस्तिसे[१] मालूम पड़ता है जो कि 'इन्स्क्रिप्शन्स एट् श्रवणबेलगोला' नामक अंग्रेजी पुस्तकमें प्रकाशित हो चुकी है। वे **अजितसेन** नामक आचार्यके शिष्य थे और बड़े भारी विद्वान् योगी और जितेन्द्रिय थे। [जैनहितैषी अंक ७–८ भाग ७]

---

१ यह बड़ी भारी प्रशस्ति श्रवणबेलगोलाके पार्श्वनाथवस्ती नामके मन्दिरमें कई शिलाओंपर उकीरी हुई अब भी मौजूद है।

नमः सिद्धेभ्यः ।

महाकवि श्रीमल्लिषेणविरचित

सज्जनचितवल्लभ ।

(भाषापद्यानुवाद और भाषाटीकासहित ।)

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

नत्वा वीरजिनं जगत्त्रयगुरुं मुक्तिश्रियो वल्लभं
पुष्पेषुक्षयनीतवाणनिवहं संसारदुःखापहम् ।
वक्ष्ये भव्यजनप्रबोधजननं ग्रन्थं समासादहं
नाम्ना सज्जनचित्तवल्लभमिमं शृण्वन्तु सन्तो जनाः ॥ १ ॥

छप्पय ।

श्रीमत वीरजिनेश त्रिजगगुरु मुक्तिरमणि-वर ।
पुष्पवाणछयहेत, धर्‍यौ जिन ब्रह्मवाणकर ॥
जगदुखनाशनहार, बार बहु सीस नवाकर ।
सज्जन चितवल्लभ-सुकाव्य यह भव्यबोधकर ॥
मैं रचूं सुनो तुम सन्तजन, 'मल्लिषेण' मुनि कहत इम ॥
तसु अर्थ लेय भाषाविषै, छन्द मिहरचँद रचत तिम ॥ १ ॥

अर्थ—जो महावीर भगवान् तीन जगतके गुरु हैं, मुक्ति-रूपी स्त्रीके पति हैं, कामदेवके नाश करनेके लिये ब्रह्मचर्य-

रूपी वाण धारण करते हैं और जन्ममरणरूप संसारके दुःखके नाश करनेवाले हैं, उन्हें नमस्कार करके मैं भव्यजनोंको ज्ञानका देनेवाला यह सज्जनचित्तवल्लभ नामक ग्रन्थ संक्षेपसे कहता हूं, उसे हे सज्जनो, सुनो ।

रात्रिश्चन्द्रमसा विनाऽब्जनिवहैर्नोभाति पद्मा करो
यद्वा पण्डितलोकवर्जितसभा दन्तीव दन्तं विना ।
पुष्पं गन्धविवर्जितं मृतपतिः स्त्री चेह तद्वन्मुनि-
श्चारित्रेण विना न भाति सततं यद्यप्यसौ शास्त्रवान् ॥ २ ॥

मत्तगयन्द (सवैया) ।

चन्द्र विना जिमि रैन न सोहत, पद्मसमूह विना सर जैसें ।
पंडितलोक विहीन सभा, नहिं सोहत दन्तविना गज वैसें ॥
गंधविना जिमि पुष्प न सोहत, स्वामिविना विधवा तिय तैसें
पंडित शास्त्रप्रवीण मुनीश्वर, चारितहीन न सोहत ऐसें ॥२॥

अर्थ—जैसे चांदके विना रात, कमलोंके विना तालाब, पंडितोंके विना सभा, दाँतोंके विना हाथी, गंधके विना फूल और पतिके विना स्त्री नहीं सोहती है, उसी प्रकारसे चारित्रके विना मुनि नहीं सोहता है, चाहे वह बड़ा भारी शास्त्रज्ञ ही क्यों न हो ।

किं वस्त्रं त्यजनेन भो मुनिरसावेतावता जायते
क्ष्वेडेनच्युतपन्नगो गतविषः किं जातवान् भूतले ।
मूलं किं तपसः क्षमेन्द्रियजयः सत्यं सदाचारता
रागादींश्च विभर्ति चेन्न स यतिर्लिङ्गी भवेत्केवलम् ॥ ३॥

हे यति, केवल वस्त्र उतारनहीसों कहा मुनि कोउ कहावै।
काँचलि छांड़नसों धरणीपर, सर्प कहा विषवर्जित थावै॥
मूल कहा तप, इंद्रियजीतन, सत्य क्षमा शुभचारित गावै।
रागरु द्वेष जु पुष्ट करै, वह नाहिं यती, ठग भेष बनावै॥३॥

अर्थ—हे मुनि, क्या इस वस्त्रके छोड़नेसे ही कोई मुनि हो जाता है? केंचुलीके छोड़ देनेसे क्या सांप विषरहित हो जाता है? तपका मूल क्या है? क्षमा धारण करना, इन्द्रियोंको जीतना, सत्य बोलना, और उत्तम आचरण पालना आदि तपके मूल हैं। इन्हें न पालके जो कोई रागादि करता है, वह सच्चा यति नहीं है। वह तो केवल लिंगी अर्थात् भेषी है।

देहे निर्ममता गुरौ विनयता नित्यं श्रुताभ्यासता
चारित्रोज्ज्वलता महोपशमता संसारनिर्वेगता।
अन्तर्बाह्यपरिग्रहत्यजनता धर्मज्ञता साधुता
साधो साधुजनस्य लक्षणमिदं संसारविक्षेपणम्॥ ४॥

देहविषै ममता परित्याग, गुरूजनमें नित शास्त्र अभ्यासा।
चारितउज्ज्वलता अधिकी, शमता भवभ्रान्तिथकी नित त्रासा॥
अन्तरबाहिर त्याग परिग्रह, साधुपना अरु धर्मविलासा।
भो मुनि लक्षण साधुनके यह, संसृतिनाशनको यमफाँसा॥४॥

अर्थ—हे साधु, साधुओंके ये लक्षण जन्मजरामरणरूप संसारके नाश करनेवाले हैं,—१ अपने शरीरपर ममता नहीं रखना, २ गुरुओंका विनय करना, ३ निरन्तर शास्त्रोंका अभ्यास करना, ४ उज्ज्वल चारित्र पालना, ५ क्रोध मान माया लोभरूप कषायोंको शान्त रखना, ६ संसारसे डरना, ७ अन्तरंग और

बहिरंगके चौवीस भेदरूप परिग्रहोंका छोड़ना, ८ उत्तमक्षमादि दशधर्मोंका वा वस्तुस्वभावका जानना और साधुपना।

किं दीक्षाग्रहणेन ते यदि धनाकाङ्क्षा भवेच्चेतसि
किं गार्हस्थ्यमनेन वेषधरणेनासुन्दरं मन्यसे।
द्रव्योपार्जनचित्तमेव कथयत्यभ्यन्तरस्थाङ्गना
नोचेदर्थपरिग्रहग्रहमतिर्भिक्षो न सम्पद्यते ॥ ५॥

जो धनकी रुचि है उर अन्तर, तो कहा संजमके श्रम ठानै।
ऐसे अपावन वेष बनावनतैं घरबार बुरा किम मानै॥
द्रव्यउपार्जन चित्त निरंतर, अंतर कामिनि चाह वखानै।
नातर हे मुनि, अर्थपरिग्रह, लेनकी बुद्धि कदापि न आनै॥५॥

अर्थ—हे भिक्षुक अर्थात् हे मुनि, यदि तेरे मनमें धनकी इच्छा है, तो इस दीक्षा लेनेसे क्या? क्या तू इस वेष बनानेसे गृहस्थपनेको बुरा समझता है? तेरा धन कमानेकी इच्छा करनेवाला चित्त ही कहता है कि, तेरे हृदयमें कोई स्त्री वस रही है! यदि ऐसा न होता, तो धनरूप परिग्रहके ग्रहण करनेकी बुद्धि ही उत्पन्न न होती। जिसके स्त्री होती है, उसीको धनकी आवश्यकता होती है।

योषाषण्ढकगोविवर्जितपदे संतिष्ठ भिक्षो सदा
भुक्त्वाहारमकारितं परगृहे लब्धं यथासम्भवम्।

---

१ चौवीस प्रकारके परिग्रह—१ मिथ्यात्व, २ वेद, ३ राग, ४ द्वेष, ५ हास्य, ६ रति, ७ अरति, ८ भय, ९ शोक, १० जुगुप्सा, ११ क्रोध १२ मान, १३ माया, १४ लोभ, ये अन्तरंगके और १५ क्षेत्र, १६ वास्तु, १७ हिरण्य, १८ सुवर्ण, १९ धन, २० धान्य, २१ दासी, २२ दास, २३ कुप्य, २४ भांड, ये बहिरंगके।

**षड्धावश्यकसत्क्रियासु निरतो धर्मानुरागं वहन्
सार्द्धं योगिभिरात्मभावनपरो रत्नत्रयालङ्कृतः ॥ ६ ॥**

**तू पशुनारिनपुंसकवर्जित थान विषै नित तिष्ठ भिखारी।
लेकर भुक्त अकारित जो, परगेह मिलै विधिके अनुसारी ॥
पाल अवश्यक षट्सुक्रियारत, धर्मधुरन्धर हो अनगारी।
साधुन साथ समागम आतमलीन त्रिरत्नविभूषणधारी ॥६॥**

अर्थ– हे भिक्षुक, पराए घर जो अपने लिये विना बनवाया हुआ दैवयोगसे लूखा सूखा भोजन मिल जावे, उसे खाकर सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्गरूप छह सत्क्रियाओंमें लीन होकर दशलक्षणरूप धर्ममें अनुराग रखकर, आत्मभावनामें तत्पर रहकर और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रयसे अलंकृत होकर योगी पुरुषोंके साथ ऐसे स्थानमें तिष्ठ, जहां कि स्त्रियों नपुसकों और पशुओंका आवागमन न हो।

**दुर्गन्धं वदनं वपुर्मलभृतं भिक्षाटनाद्भोजनं
शय्या स्थण्डिलभूमिषु प्रतिदिनं कट्यां न ते कर्पटं।
मुण्डं मुण्डितमर्द्धदग्धशववत्त्वं दृश्यते भो जनैः
साधोऽद्याप्यबलाजनस्य भवतो गोष्ठी कथं रोचते ॥ ७ ॥**

**आवत गन्ध बुरी मुखतैं, अरु धूसर अंग भिछाकर खाना।
भूमिकठोरविषै नित सोवन, ना कटिमें पटकौ हु ठिकाना ॥
मुंडित मुंड परै दृग लोकन, अधजले मृतअंग समाना।
नारिनके सँग तौहु अरे मुनि, चाहत क्योंकर बात बनाना ॥७॥**

अर्थ––हे साधु, तेरे मुंहमेंसे दंतधावन नहीं करनेके कारण बुरी गंध आती है, शरीर तेरा मैलसे लिपटा हुआ है, भिक्षा-

टन करनेसे तुझे भोजन मिलता है, हमेशा कठोर ककरीली भूमिमें तू सोता है, कमरमें तेरे कोपीन मात्र वस्त्र भी नहीं है, नंगा है, सिर तेरा मुंड़ा हुआ है, और इस कारण लोगोंकी दृष्टिमें तू अधजले मुर्देके जैसा माळूम होता है, इतनेपर भी तुझे स्त्रियोंके साथ वचनालाप करना कैसे रुचता है ? अर्थात् जो ऐसा बदसूरत है, वह स्त्रियोंके साथ किस आशासे बातचीत करेगा ?

अङ्गं शोणितशुक्रसंभवमिदं मेदोऽस्थिमज्जाकुलं
बाह्ये माक्षिकपत्रसन्निभमहो चर्मावृतं सर्वतः।
नोचेत्काकबकादिभिर्वपुरहो जायेत भक्ष्यं ध्रुवं
दृष्ट्वाद्यापि शरीरसद्मनि कथं निर्वेगता नास्ति ते ॥ ८॥

शोणित वीरजसों उपजी यह, देह अपावन वस्तु भरी है।
बाहिर माखिके पंख समान जु, चाम लेपटनसों सुथरी है ॥
नातर वायस और बकादिक, भुंजत संशय कौन करी है।
यों लखि क्यों न अजौं लग तेरी, स्वदेहविषै ममता न हरी है॥८॥

अर्थ– यह शरीर रुधिर और वीर्यसे उत्पन्न हुआ है, और हाड़ मेदा मजादि अपवित्र वस्तुओंसे भरा है। यदि यह बाहिरसे मक्खीके पंखोंके समान पतले चमड़ेसे सब ओर लिपटा हुआ नहीं होता, तो अवश्य ही काग बगुला आदि जन्तु इसे

---

१ मात पिता रज वीरजसों, उपजी सब सात कुधातु भरी है।
माखिनिके पर माफिक बाहर, चामके बेठन बेठ धरी है ॥
नाहिं तो आय लगैं अब ही, बकवायस जीव बचै न घरी है।
देहदशा यह दीखत भ्रात, घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है ॥

भूधरजैनशतक।

खा जाते। यह देखकर भी तुझे इस शरीररूपी घरमें विरक्तता क्यों नहीं आती?

दुर्गन्धं नवभिर्वपुः प्रवहति द्वारैरिदं सन्ततं
तद्दृष्ट्वापि च यस्य चेतसि पुनर्निर्वेगता नास्ति चेत्।
तस्मान्यद्भुवि वस्तु कीदृशमहो तत्कारणं कथ्यतां
श्रीखण्डादिभिरङ्गसंस्कृतिरियं व्याख्याति दुर्गन्धताम्॥९॥

देह बुरी दुरगन्ध भरी यह, नौ मलद्वार बहैं नित यासौं।
ताहि बिलोक न होत विराग, अहो चितमें इम पूछत तासौं॥
कौन अपावन वस्तु धरापर, हो विरती मनमें लख जासौं।
केसर आदि सुगंधित वस्तु, लहैं दुरगन्ध सपर्शत तासौं॥९॥

अर्थ– यह शरीर दुर्गन्धवान् है, और नव द्वारोंसे निरन्तर झिरा करता है। इसको देखकर भी जिसके चित्तमें वैराग्य नहीं होता है, तो कहिये पृथ्वीकी और कौनसी वस्तु उसको वैराग्य उत्पन्न करा सकती है? यह चन्दनादिकरके किया हुआ शरीरसंस्कार दुर्गन्धताको प्रगट करता है।

स्त्रीणां भावविलासविभ्रमगतिं दृष्ट्वानुरागं मना-
ग्मागास्त्वं विषवृक्षपक्वफलवत्सुस्वादवन्त्यस्तदा।
ईषत्सेवनमात्रतोपि मरणं पुंसां प्रयच्छन्ति भोः
तस्माद्दृष्टिविषाहिवत्परिहर त्वं दूरतो मृत्यवे॥१०॥

देख त्रियाजनकी गतिविभ्रम, और विलास न हो अनुरागी।
हैं विषवृक्षतने फल पक्व, समान सुस्वादनमें रस पागी॥
किंचित सेवनसौं नर याकर, मृत्यु लहै दुख पाय अभागी।
यातैं तियानकौं दूरहितैं तज, दृष्टिविषाहि समान विरागी॥१०॥

अर्थ– हे यति, स्त्रियोंके भावविलास विभ्रम गति आदि विकारोंको देखकर तू जरा भी अनुराग मत कर। ये स्त्रियां विषवृक्षके पके हुए फलोंके समान उत्तम स्वादवाली हैं, और जरा सेवन मात्रसे ही पुरुषोंको मृत्यु देती हैं, अर्थात् जिस तरह विषका पका फल खानेमें तौ मीठा होता है, परन्तु खाते ही प्राण ले लेता है, उसी तरह स्त्रियां भी भोगते समय अच्छी लगती हैं, परन्तु अन्तमें नरकादि दुःख देती हैं। इस लिये इन्हें तू दृष्टि-विष सांपके समान दूरहीसे त्याग दे। दृष्टिविष एक प्रकारका सांप होता है, जिसके देखनेमात्रसे मनुष्यपर विषका असर हो जाता है।

यद्यद्वाञ्छति तत्तदेव वपुषे दत्तं सुपुष्टं त्वया
सार्द्धं नैति तथापि ते जडमते मित्रादयो यान्ति किम्।
पुण्यं पापमिति द्वयं च भवतः पृष्ठेन यातीह ते
तस्मान्मास्म कृथा मनागपि भवान्मोहं शरीरादिषु॥ ११॥

जो कछु मांगत वस्तु सुपोषक, तू तनको नित देत अज्ञानी।
तौ हु नहीं यह तो सँग जीवहि, मित्रनकी फिर कौन कहानी॥
पुण्यरुपाप चलैं तव पीछहु, तू इन दोउनकौ अगवानी।
यौं लखिके तन आदितैं नेह, तजौ यह मोह महा दुखदानी॥११॥

अर्थ– हे जड़बुद्धि, यह शरीर जो २ पुष्ट पदार्थ चाहता है, सो सो तू इसे बराबर देता है, तौ भी यह तेरे साथ नहीं जाता है, फिर मित्रादिक तो जावेंगे ही कैसे? यहांसे तो पुण्य और पाप ये ही दोनों तेरे पीछे जानेवाले हैं। इस लिये तू शरीरादि पदार्थोंमें जरा भी मोह मत कर।

शोचन्ते न मृतं कदापि वनिता यद्यस्ति गेहे धनं
तच्चेनास्ति रुदन्ति जीवनधिया स्मृत्वा पुनः प्रत्यहम्।
कृत्वा तद्दहनक्रियां निजनिजव्यापारचिन्ताकुलाः
तन्नामापि च विस्मरन्ति कतिभिः संवत्सरैर्योषिताः॥१२॥

जो घरमें धन हो, न कदापि, करै तिय सोच मरे बलमाकी।
जो नहिं हो धन तौ नित रोवत, धार हिये अभिलाष जियाकी॥
दग्ध किये पर सर्व कुटुंबके, स्वार्थ लगैं ममता तज ताकी।
केतिक वर्ष गये अबला जन, भूलहिं नाम न लें सुधि बाकी॥१२॥

अर्थ—यदि घरमें धन हो, तौ पतिके मर जानेका स्त्रियां शोक नहीं करती हैं। परन्तु यदि न हो, तो प्रतिदिन उसका स्मरण कर करके इस लिये रोती हैं कि अब हम (धनके विना) कैसे जियेंगीं। फिर उसकी दहनक्रिया हो चुकनेपर अपने अपने कामकी चिन्तामें लग जाती हैं और कुछ वर्षोंमें तो उसका नाम भी भुला देती हैं।

अष्टाविंशतिभेदमात्मनि पुरा संरोप्य साधो व्रतं
साक्षीकृत्य जिनान् गुरूनपि कियत्कालं त्वया पालितम्।
भक्तुं वाञ्छसि शीतवातविहतो भूत्वाधुना तद्व्रतं
दारिद्रोपहतः स्ववान्तिमशनं भुङ्क्ते क्षुधार्तोपि किम्॥ १३॥

आठरु विंशति मूल गुणातम, तैं मुनि पूर्वसमै व्रत लीना।
देव गुरूजन साख हिये धर, केतिक काल जु पालन कीना॥
शीतल वायुतनै दुखतैं अब, खंडनमैं तिसके चित दीना।
दीन क्षुधातुरने हू कहीं, निज छर्दितनो कहा भोजन कीना॥१३॥

अर्थ—हे साधु, तूने पहिले केवली भगवान और जैनगुरु-

ओंकी साक्षी लेकर अट्ठाइस मूल गुणोंको धारण करके उन्हें कुछ समय तक पाला, परन्तु अब शीत और वायुकी वेदनासे विह्वल होकर तू उन व्रतोंको भंग करना चाहता है, सो क्या योग्य है? क्या कोई दरिद्री पुरुष भी कभी भूखसे व्याकुल हो अपनी की हुई कैको (वमनको) फिर खाने लगता है?

अन्येषां मरणं भवानगणयन्स्वस्यामरत्वं सदा
देहिन् चिन्तयतीन्द्रियद्विपवशीभूत्वा परिभ्राम्यसि ।
अद्यश्वः पुनरागमिष्यति यमो न ज्ञायते तत्त्वत-
स्तस्मादात्महितं कुरुत्वमचिराद्धर्मं जिनेन्द्रोदितम् ॥ १४ ॥

औरनका मरना अविचारत, तू अपना अमरत्व विचारै ।
इंद्रियरूप महा गजके, वशिभूत भया भवभ्रांति निहारै ॥
आजहि आवत वा कलके दिन, काल न तू यह रंच चितारै ।
तौ गह धर्म जिनेश्वरभाषित, जो भवसंतति बेग निवारै ॥१४॥

अर्थ—हे आत्मा, तू औरोंके मरनेको नहीं जानता हुआ आपको अमर समझता है और इन्द्रियरूपी हाथीके वशमें पड़के भ्रमण करता फिरता है । आज या कल कब यमराज आ जायगा यह ठीक नहीं मालूम है । इसलिये अपने हितकारी सर्वज्ञ जिनेन्द्रके कहे हुए धर्मको तू शीघ्र ही धारण कर ।

---

१ मूलगुण—१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अचौर्य, ४ ब्रह्मचर्य, ५ अपरिग्रह, ६–१० ईर्या–भाषा–एषणा–आदाननिक्षेपण–प्रतिष्ठापनसमिति, ११–१५ पंचेन्द्रियविजय, १६–२१ स्तवन–वन्दना–प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान–कायोत्सर्ग (षटावश्यक), २२ भूमिशयन, २३ स्नानत्याग, २४ दन्तधावनत्याग, २५ वस्त्रत्याग, २६ केशलोंच, २७ उदंड आहार और २८ अल्प भोजन ।

सौख्यं वाञ्छसि किन्त्वया गतभवे दानं तपो वा कृतं
नोचेत्त्वं किमिहैवमेव लभसे लब्धं तदत्रागतम्।
धान्यं किं लभते विनापि वपनं लोके कुटुम्बीजनो
देहे कीटकभक्षितेक्षुसदृशे मोहं वृथा मा कृथाः॥१५॥

चाहत है सुख क्या पिछले भव, दान दिया अरु संयम लीना।
नातर या भवमैं सुख प्रापति हो न, भई सो पुराकृत कीना॥
जो नहिं डारत बीज महीपर, धान लहै न कृषी[1] मतिहीना।
कीटकभक्षित ईखसमान, शरीरविषै तज मोह प्रवीना॥ १५॥

अर्थ– हे जीव, जो तू सुखकी वांछा करता है, सो क्या तूने पूर्व भवमें दान दिया था? वा कोई तप किया था? यदि दान तप नहीं किया है, तौ इस लोकमें तुझे सुख कैसे मिल सकता है? जैसा पूर्वमें किया था, वैसा यहां प्राप्त हुआ। संसारमें किसान लोग क्या बिना बोये भी कहीं धान्य पाते हैं? कीड़ेके खाये हुए ईखके समान अर्थात्, काने गन्नेके समान इस संसारमें तू वृथा मोह मत कर।

आयुष्यं तव निद्रयार्द्धमपरं चायुस्त्रिभेदादहो
बालत्वे जरया कियद्व्यसनतो यातीति देहिन् वृथा।
निश्चित्यात्मनि मोहपाशमधुना संछिद्यबोधासिना
मुक्तिश्रीवनितावशीकरणसच्चारित्रमाराधय॥१६॥

आयुष अर्ध अरे मतिमंद, व्यतीत भई तव नींदमँझारी।
अर्ध त्रिभाग जरापन यौवन, शैशवके[2] वश व्यर्थ विसारी॥
आतममें दृढ धार सुधी, गह ज्ञानअसी[3] मुँहपाश[4] विदारी।
मुक्तिरमारमणी वशकारण, हो नित सम्यक चारितधारी॥१६॥

---

१ कृषक–किसान। २ बालकपन। ३ तलवार। ४ मोहपाश–मोहकी फांसी।

अर्थ– हे आत्मा, बड़े शोककी बात है कि, तेरी आधी उमर तो नींदमें चली जाती है और शेष आधी आयु बाल-कपन बुढ़ापे और जवानीमें तीन भाग होकर व्यर्थ जाती है। अब आपेमें इसतरह निश्चय करके ज्ञानरूपी खड्गसे मोहकी फाँसी काटकर मोक्षलक्ष्मीरूपी स्त्रीको वशमें करनेवाले उत्कृष्ट चारित्रको धारण कर।

यत्कालें लघुपात्रमण्डितकरो भूत्वा परेषां गृहे
भिक्षार्थं भ्रमसे तदा हि भवतो मानापमानेन किम्।
भिक्षो तापसवृत्तितः कदशनात्किं तप्यसेऽहर्निशं
श्रेयार्थं किल सह्यते मुनिवरैर्बाधा क्षुधाद्युद्भवाः॥ १७॥

जा छिनमें लघु पात्र लिये, पर गेहमें भीख जु मांगन जावै।
ता छिनमें अपमान समान, कहा तुव मान न भीख मँगावै॥
भो मुनि तापस हो दिनरैन, न अप्रिय भोजनतैं दुख पावै।
मुक्त्यभिलाषि महामुनि कष्ट,सहैंहि जु भूखरु प्यास दिखावै।१७।

अर्थ– हे भिक्षुक, जिस कालमें तू हाथमें छोटा पात्र लेकर भिक्षाके लिये औरोंके घर फिरता है, उस कालमें तुझको मान और अपमानसे क्या? तू अपनी तापसवृत्ति और अरोचक भोजनसे रातदिन क्यों दुखी होता है? जो महामुनि हैं वे, इन क्षुधापिपासादिजनित बाधाओंको अपने कल्याणके लिये अवश्य सहते हैं।

एकाकी विहरत्यनस्थितबलीवर्दो यथा स्वेच्छया
योषामध्यरतस्तथा त्वमपि भो त्यक्त्वात्मयूथं यते।

तस्मिंश्चेदभिलषता न भवतः किं भ्राम्यसि मत्यहं
मध्ये साधुजनस्य तिष्ठसि न किं कृत्वा सदाचारताम्॥१८॥

साँड़ समान अनस्थिर हो, विचरै जु असंग स्वछंद अकेला।
छाँड़के आपनी संगतिको, अबला जनसौं कर आपुन मेला॥
जो तिनमें अभिलाष नहीं, तब तौ दिनरैन भ्रमै किम गैला।
क्यों न रहै मुनि संगतिमें, धर उत्तम चारितपंथ सुहेला।१८।

अर्थ– हे यति, जिस तरह चंचल साँड़ वा बिजार स्वजातीय स्त्रियोंमें अर्थात् गायोंमें आसक्त हुआ अपने झुंडको छोड़कर जहां जी चाहता है वहां अकेला फिरता है, उसी प्रकारसे तू भी एकाकी फिरता है। जो स्त्रियोंमें तेरी अभिलाषा नहीं है, तौ प्रतिदिन क्यों भ्रमण करता है, ? साधुजनोंके बीचमें सम्यक्चारित्र धारण करता हुआ क्यों नहीं रहता है।

क्रीतान्नं भवता भवेत्कदशनं रोषस्तदा श्लाघ्यते
भिक्षायां यदवाप्यते यतिजनैस्तद्भुज्यतेऽत्यादरात्।
भिक्षो भाटकसद्मसन्निभतनोः पुष्टिं वृथा मा कृथाः
पूर्णे किं दिवसावधौ क्षणमपि स्थातुं यमो दास्यति॥१९॥

जो असुहावन भोजन मोल, लियौ कहुं होय तो रोष हु सोहै।
साधु तौ आदरतैं वही भुंजत, जो कछु आय पिरापत हो है॥
भिक्षुक भाड़ेके गेह समान, न देहकौ पोष वृथाकर खोवै।
पूरनआयु भये क्षण एक हू, ना यमराज ठरावनको है॥१९॥

अर्थ– हे भिक्षुक, यदि यह कुभोजन तूने कुछ मोल-देकर लिया होता, तौ तेरा क्रोध करना भी फबता। भिक्षामें तौ लूखा सूखा जैसा मिल जाता है, साधुजन उसीको बड़े प्रेमसे खा लेते हैं। तू इस भाड़ेके घर समान शरीरको वृथा

पुष्ट मत कर । जब भाड़ेकी अवधिके समान आयुके दिनोंकी अवधि पूरी हो जायगी, तब क्या इसमें यमराज तुझे एक क्षण-भर भी ठहरने देगा ?

लब्ध्वार्थं यादि धर्मदानविषये दातुं न यैः शक्यते
दारिद्रोपहतास्तथापि विषयासक्तिं न मुञ्चन्ति ये।
धृत्वा ये चरणं जिनेन्द्रगदितं तस्मिन्सदानादरा-
स्तेषां जन्मनिरर्थकं गतमजाकण्ठे स्तनाकारवत् ॥ २० ॥

जो धन पाय न दान करैं, अरु धर्मविषैं नहि ताहि लगावैं ।
होय दरिद्र तथापि विषैरति, छांड़ते नाहिं विषैदुख पावैं ॥
धार हिये जिनभाषित चारित, भाव अनादरता विच लावैं ।
ते बकरीके गलस्तनके सम, आपुनो जन्म निरर्थ गमावैं ।२०॥

अर्थ– जो मनुष्य धनको पाकरके उसे धर्मदानमें नहीं लगाते हैं, और जो निर्धन हैं, तौ भी विषयवासनाओंको नहीं छोड़ते हैं, और जो जिनेन्द्रभगवानके कहे हुए चारित्रको धारण करके उसमें अनादरपूर्वक वर्तते हैं–दोष लगाते हैं, उनका जन्म बकरीके गलेके स्तन समान व्यर्थ समझना चाहिये ।

लब्ध्वा मानुषजातिमुत्तमकुलं रूपं च नीरोगतां
बुद्धिर्धी धनसेवनं सुचरणं श्रीमज्जिनेन्द्रोदितम् ।
लोभार्थं वसुपूर्णहेतुभिरलं स्तोकाय सौख्याय भो
देहिन्देहसुपोतकं गुणभृतं भक्तुं किमिच्छास्ति ते ॥ २१ ॥

पाकर मानुष औकुल उज्वल, सुन्दर रूप निरामय काया।
बुद्धि सुधी जनसेवितपाद, भयो जिनभाषित चारित पाया ॥

लोभवशी धनसंचय कारण, भौसुख किंचित हेत भ्रमाया।
आतम-देह सुपोत गुणाकर, ताहि विदारणको चित लाया २१।

अर्थ—हे आत्मा, मनुष्य जाति,उत्तम कुल, उत्तम रूप, नीरोग शरीर, बुद्धि, पंडितजनोंकृत सेवा, और जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए उत्तम चारित्रको पाकर लोभके अर्थ धनकी पूर्णताके कारण थोड़ेसे सुखके लिये गुणोंके भरे हुए शरीररूप श्रेष्ठ जहाजके तोड़नेको तेरी इच्छा क्यों बढ़ रही है?

वेतालाकृतिमर्द्धदग्धमृतकं दृष्ट्वा भवन्तं यते
यासां नास्ति भयं त्वया सममहो जल्पन्ति तास्तत्पुनः।
राक्षस्यो भुवने भवन्ति वनिता मामागतं भक्षितुं
मावेवं प्रपलाप्यतां मृतिभयात्त्वं तत्र मास्थाः क्षणम् ॥२२॥

हे मुनि अर्धजले शव तुल्य, निहार तुझे अरु भूत समाना।
भीति नहीं जिनके उरमें, पुनि बोलत तो सँग शंक न आना॥
राक्षसी हैं वनिता 'मम भक्षणको उतरीं' यह जान सुजाना।
भाग हिये धर मृत्युतनो डर, तिष्ठ न ह्वां छिन एक प्रमाना॥

अर्थ—हे मुनि, तू अधजले मुर्दे सरीखा और भूत जैसा है। तेरा ऐसा रूप देखकर भी जिन स्त्रियोंको डर नहीं लगता है और तेरे साथ जो निःशंक बार्तालाप करती हैं, वे स्त्रियां, स्त्रियां नहीं राक्षसी हैं। इसलिये 'मेरे भक्षण करनेके लिये ये आई हैं' ऐसा समझकर तू मरणके भयसे भाग और उनके पास क्षण भरके लिये भी मत ठहर।

---

१ अपनी देह। २ जहाज।

मागास्त्वं युवतीगृहेषु सततं विश्वासतां संशयो
विश्वासे जनवाच्यतां भवति ते नश्येत्पुमर्थं ह्यतः ।
स्वाध्यायानुरतो गुरूक्तवचनं शीर्षे समारोपयँ-
स्तिष्ठ त्वं विकृतिं पुनर्व्रजसि चेद्यासि त्वमेव क्षयम् ॥२३॥

नारिनके घरको विशवास, कदापि न चित्तमें रंच हु लावै ।
ताहि किये तुव ओर सु संशय, हो पुरुषारथ सर्व नशावै ॥
हो रत पुस्तक पाठनमें, गुरु भाषित वैन तू सीस चढावै ।
जो इसके विपरीत चलै मुनि, तौ निज नाश करै दुख पावै॥२३॥

अर्थ—हे मुनि, तू स्त्रियोंके घरमें निरन्तर विश्वास मत कर। यदि करेगा अर्थात् स्त्रियोंके घर आया जाया करेगा, तौ लोक तेरी चर्चा करेंगे—अकीर्ति करेंगे और इससे तेरा पुरुषार्थ नष्ट होगा। इसलिये तू स्वाध्यायमें रत होकर गुरुके कहे हुए वचनोंको सिरपर धारण करता हुआ तिष्ठ। यदि इससे उलटा चलेगा, तो तेरी ही हानि होगी।

किं संस्कारशतेन विट् जगति भोः काश्मीरजं जायते
किं देहः शुचितां व्रजेदनुदिनं प्रक्षालनादम्भसा ।
संस्कारो नखदन्तवक्त्रवपुषां साधो त्वया युज्यते
नाकामी किल मण्डनप्रिय इति त्वं सार्थकं मा कृथाः ॥२४॥

ज्यों जगमें विट[1] संस्कृति सौकर[2], चन्दन केसर ना बन जावै ।
त्यों यह देह न न्हौन किये, प्रति वासरके शुचिता टुक पावै ॥
संस्कृति दंतनकी नखकी, मुखकी वपुकी यह बात जनावै ।
है न अकामी तू मंडनप्रीतम, क्यों यह सार्थक नाम धरावै॥२४॥

अर्थ—हे मुनि, क्या जगतमें सौ संस्कारोंके करनेसे भी

---

१ विष्टा। २ सौ संस्कारोंसे।

विष्टा केसर हो सकता है? यह शरीर विष्टाके समान है, सो क्या यह प्रतिदिनके स्नानसे शुद्ध हो जायगा? तू अपने नखों दांतों और शरीरका जो संस्कार करता है अर्थात् इन्हें दंत-धावन स्नानादिसे उज्ज्वल रखता है, सो तू 'मंडनप्रिय है–अकामी नहीं है' ऐसा सार्थक नाम मत रखवा।

वृत्तैर्विंशतिभिश्चतुर्भिरधिकैः सल्लक्षणेनान्वितै
ग्रन्थं सज्जनचित्तवल्लभमिमं श्रीमल्लिषेणोदितम्।
श्रुत्वात्मेन्द्रियकुञ्जरान्समटतो रुन्धन्तु ते दुर्जरा-
न्विद्वांसो विषयाटवीषु सततं संसारविच्छित्तये ॥२५॥

बीस रु चार शलोकनिमें, यह उत्तम लक्षणयुक्त नवीना।
सज्जनचित्त सुवल्लभ काव्य, रच्यौ मलिषेण बड़ो हित कीना॥
आतम इंद्रिय दुर्जर कुंजर, जे विषयाटविमें नित लीना।
या सुनके वश आन तिन्हें, जग विच्छिति हेत सुधी गुणपीना॥

अर्थ––विद्वान् पुरुषोंको चाहिये कि, वे श्रीमल्लिषेणाचार्यके बनाये हुए इस श्रेष्ठलक्षणयुक्त ग्रन्थको जिसमें कि चौवीस श्लोक हैं, सुनकर अपने इन्द्रियरूप हाथियोंको जो कि विषयरूप अटवीमें चारों ओर फिरते हैं और दुर्जर हैं, जन्म जरा मरणरूप संसारके नाशके लिये रोकें।

पद्यानुवादकका परिचय.

छप्पय ।

भारतवर्षमँझार, देश पंजाब सुविस्तृत ।
तामध दिल्ली जिला, सकल जनको आनँदकृत ॥
ताके उत्तर मध्य नगर सुनपत भयभंजन ।
तामध चार जिनेशभवन भविजनमनरंजन ॥
तिस नगरमाहिं मम वास है, मिहरचंद मम नाम वर ।
हूं पंडित मथुरादासको, लघु भ्राता लघु ज्ञानधर ॥

चौपाई ।

तिनने अल्प बुद्धि अनुसार । संस्कृत भाषा छंद मँझार ।
बालबोधिनी टीका सार । रची न पंडित जनहितकार ॥

समाप्त.

ओं नमः सिद्धेभ्यः।

भाषा सज्जनचित्तवल्लभ।

स्वर्गीय कविवर नयनानन्द कृत।

सवैया इकतीसा (मनहर)।

वंदौं महावीर हरैं जगतकी पीर भव-
दावानलनीर तरुकरम[1]-कुठारी हैं।
मिथुन भुवन ईश तथा पांचवीं गतीश,
हरन रतीश[2] सदा बालब्रह्मचारी हैं॥
भवदधितारी 'दृग-आनँद' सुधारी देत,
धोक बारबारी यामैं संज्ञा हू हमारी है।
वल्लभ सज्जनचित्त सुनो भवि जीव नित्त,
पचीसी तुमारे हित भाषनी विचारी है॥ १॥

इष्ट गंध भ्रष्ट जैसैं सोहै न कुसुम[3]खंड,
दंती[4] दंतरहित तड़ाग बिन नीरके।
जलज[5] सलिल[6] विन तिया भरतार हीन,
दंपाति धरमहीन भूप विन धीरके॥
विटप[7] अछाँह विन लवण असन जैसैं,
संतति अगुण पंच पक्षी[9] एक सीरके[10]।
चारित विहीन त्यौं ही संतनकी शोभा नाहिं,
ताहीकौं संभारैं तेही बेटे सूरवीरके॥ २॥

---

१ कर्मरूपी वृक्षके काटनेके लिये कुल्हाड़ी। २ कामदेव। ३ फूल। ४ हाथी। ५ कमल। ६ पानी। ७ वृक्ष। ८ मूर्ख। ९ पक्षपाती। १० एक पक्षके।

त्यागिकै वसन सब भयौ है नगनरूप,
बगुलाकी प्रकृति प्रतच्छ विसतारी है ।
क्षम दम सत्य सदाचारहूको लेश नाहिं,
क्रोध मान माया लोभ चौकड़ी सँभारी है ॥
अहो भवि 'नंद' होय ऐसौ मुनिचंद सो तौ,
भूत महा ऊत एक पाखंडकौ धारी है ।
कहा भयौ साँपने जो काँचली विसार दीनी,
विष न विसारौ जो महान दुखकारी है ॥ ३ ॥

मूँड़के मुँड़ैया मुनिरूपके धरैया अहो,
साधु मेरे भैया एक बीनती हमारी है ।
बाहर विरागी और अंतर सरागी अण-
मिलीहूको त्यागी यह बात क्या विचारी है ॥
मुखसे न बोलै निज भेदहू न खोलै थान,
ढूंढ़तौ ही डोलै प्रीति गोचरीसों धारी है ।
लोभको बढ़ाता है सो भेषको लजाता भैया,
संतनको ऐसा कियें होत बंध भारी है ॥ ४ ॥

अहो मुनि इष्ट सदा ऐसी ठौर तिष्ठ जहाँ,
भामिनि अनिष्टवैनी कान न सुनीजिये ।
गाय बैल भैंसनकी शालामें न पैर देहु,
असनं[1] अकारित[2] विशुद्ध लखि लीजिये ॥

---

१ भोजन। २ जिसे कहके नहीं करवाया हो, अनुदिष्ट ।

धरमानुराग शुभमारगमैं लाग निज,
अनुभव आतम पियूषरस पीजिये।
ज्ञान औ चरन दर्श याहीको शरन पर्श,
धारिकै सन्यास तन त्यागन सुकीजिये॥ ५॥

देह दुरगंधलीन भयौ अति रूपहीन,
कियौ बल छीन भूमि आसन लगायौ है।
मांगिकै अहार पोषै आतम सुधार कभू,
रहै निराहार भेष नगन बनायौ है॥
मानौ है मसान तप करत महान कियौं,
मूँड़को मुँड़ान गोल गट्टासौ कढ़ायौ है॥
अहो मुनिराय मेरे भ्रमको मिटाय अजौं,
अबलाकी प्रीतिमाहिं चित्त क्यों लगायौ है॥६॥

जननीको रक्त और जनकको वीर्य मिल,
देहको बनाव बन्यौ अहो साधु बावरे।
जामें अस्थि[1] नसाजाल थूक औ सिणक[2] खाल,
राध पीप मूत्र औ पुरीष[3]को सनाव रे॥
माँखीको सो पंख जामें बेढ्यो सरवंग अंग,
देख ले सुबुद्धी यासौं मत करै चाव रे।
शूकर समान मत मानै पकवान तोहि,
ठाकुरकी आन नेक आप समझाव रे॥ ७॥

---

१ हड्डियां। २ नाकका मल। ३ विष्टा।

अहो संत भेषवंत जगमैं सुशीलतंत[1],
सोतैं बिसरायौ चित्त तियामैं लगायौ है।
सुन्दर सरूप रेख जानि लेहु वज्र मेख,
[2]बींधैगी कलेजा कहा देख भरमायौ है॥
दृष्टीविषसाँपनीकी बापँनी[3] विचार भैया,
प्राणकी लिवैया भेद भाव जतलायौ है।
दूरहीतैं भाग विष बेलफल त्याग शुभ-
मारगमैं लाग तोहि कौननैं भकाँयौ[4] है॥ ८॥

संजम सँभाऱ्यौ पंच महाव्रत धारे आठ,-
वीस गुण पालन सुफेदी सीस छाई है।
दशधा सुवृष[5] दोय बीस महादुख[6] सहे,
मुकति मिलनकी विभूति सब पाई है॥
करिकै कमाई अब चाहत बहाई फिर,
वमन कियेकौं चाटवेकी रुचि आई है।
हा हा! ऐसी बुद्धिको धिकार बारबार भैया,
भूखौहू न छूवै तोहि कहा मन भाई है॥ ९॥

अहो व्रतधारी एक वीनती हमारी सो तू,
जान हितकारी पै किरोधकौ न काम रे।

---

१ शीलतत्व— ब्रह्मचर्य। २ छेद देगी। ३ मा। ४ बहकाया है। ५ धर्म। ६ परीषह।

आप भयौ चाकर शरीर कियौ ठाकर जु
    मांगे सो खिलावै औ बनावै नये धाम रे॥
सो तौ एक दिन तोहि डार देगो भिन्न अहो,
    प्रतछ परायेकी प्रतीत कहा बावरे।
सुकृत दुकृत बिन कोई न सँगौती भैया,
    करकै संतोष झूठी ममता निवार रे॥ १०॥

दान हू न दीनौ जप तप हू न कीनौ सील,
    समता न भीनौ खेत काँटनको बोयो है।
काहूको चुरायौ माल काहूकी कढ़ाई खाल,
    जानिकै जनम भव भौंरमें डबोयो है॥
भयौ जगमांहि जैठौ पाथरकी नाव बैठौ,
    डूब गयौ वंश तब लोगनसौं रोयो है।
हा हा तात! हा हा मात! हा हा पुत्र! हा हा भ्रात!
    ऐसें आपनो भरम भाव आप खोयो है॥ ११॥

जैसैं मातौ बैल डोलै गायनके गैल ताहि,
    काहूकी न लाज शील भंजनसों काम है।
आगै और पीछेहूतैं दीखत सकल अंग,
    देखैं सारी धेनु अरु देखै सारो गाम है॥
त्यौं ही शुभाचार साधु संगको बिसार तू,
    बिजार जैसो यार काहे डोलै धाम धाम है।

---

१ पुण्य। २ पाप। ३ साथी। ४ कंटकोंका। ५ गायें।

होरीको सौ ऊत जमराजको सौ दूत अहो,
मोहि तू बताव तेरो कैसो साधु नाम है ॥ १२ ॥

आदर अनादरतैं पावत अहार दुष्ट,
होत है सराग औ विराग वाही ठौर है।
देय कोऊ मिष्ट तौ उछिष्ट अंगीकार करै,
लूखौ मिलै तौ कहै हम कहा ढोर है ॥
धरमको हारै मूढ एती न विचारै जाके,
हेत लूं अहार सो तौ धरमको चोर है ॥
मेरी ना जगीर मेरे बापकी जगीर ऐसी,
भाड़ेकी सरायपर मेरो कहा जोर है ॥ १३ ॥

केवड़ेसों न्हायके मँगायके फुलेल तेल,
मृगमद[1] केसर कपूर लाय सोईये।
कोमल कमल केतकीकी सेजहूतैं नित्य,
उठिकै शरीर क्षीर सागरसों धोईये ॥
कीजिये उपाय तौ अशुद्धता न थाय नव,
ग्यारह मल द्वारको स्वभाव कैसें खोईये।
विषै वास मेटे विन देहकी न बास जाय,
तातैं मन सोधि बीज सुकृतको बोईये ॥ १४ ॥
मरत अनादिहूतैं कोटिन कलप बीते,
आपने मरणको हिसाब न करत है।

---

१ कस्तूरी।

हाड़नके ढेर कोटि मेरुतैं सरस[1] कीनैं,
रुदनके नीर कोटि सागर भरत है ॥
औरनको आप रोयौ तोहि लाखौं रोय हारे,
रोवत खलक[2] तोहि दीख न परत है।
ज्ञान बान छूटि गई हिरदेकी फूटि गई,
अंजनके किये कछु काज न सरत है ॥ १५ ॥

जीवनकी आयु शनै शनै बीती जाय आधी,
नींदमैं गँवाई आधी तीन भाँति नासी है।
बालापन बालभोग जोबनमैं काम रोग,
वृद्ध भये काल रूप ब्यौल[3] आय डासी है ॥
तीनौं पन बीत गये दोनों हाथ रीते रहे,
धर्‍यौ न चरित्र अन भयौ वनवासी है।
जगकी न सुनै मौत राग सुनै कहा होत,
राग आग त्यागनी दयालु गुरु भासी है ॥ १६ ॥

जौन जिनराजके धरमको मरम त्याग,
चारित विहायकै कुचारितमैं पागे हैं।
द्रव्यकी दशामैं दान धरमकी कीनी हानि,
दारिद्रके उदै व्रत संजमसों भागे हैं ॥
धरम अरथ काम मोक्षको न जानैं नाम,
च्यारौं पुरुषारथ अकारथही त्यागे हैं

१ अधिक। २ संसार। ३ सर्प

जीयौ मूयौ एक सौ जनम ऐसे लोगनको,
जैसें अजा कंठके जुगम थन लागे हैं ॥ १७ ॥

जैसें भारी सोह चाल्यौ सागरकी राह तानैं,
नाना भाँति रतनसों पोट भर लीनौ है।
पाटहीके काज लाग्यौ तोड़नैं जहाज मूढ़,
उदधिको पार पाय माल बोर दीनौ है ।
तैसें नर अंग कुल उत्तम उतंग जाति,
अरुज शरीर रूप बुद्धि बल भीनौ है ।
लग्यौ है किनारै तौऊ भोगको न छाँरै अहो,
अजहूं न चेतै तौ बताव कहा जीनौ है ॥ १८ ॥

जैसें मूये मानुषकौं कीनौ है दगध आधौ,
तैसें तू कुरूप भयौ मिथ्यातप ठानतें।
भूतको सौ भाई तोसों बोलत लुगाई लुब्यौ,
जात वित्त तेरो तू न देखै मोह मानतें ॥
कौणपकी माईहूतें सौ गुणी बताई तेरे,
मनमें समाई तोहि परी कैसी बान है।
याके हाव भावमें बढ़ैगो भवजाल तेरो,
ये तौ यार पाथरकी नावके समान है ॥ १९ ॥

---

१ बकरीके गलेमें। २ साहूकार व्यापारी। ३ नीरोग।
४ कौणपकी माई अर्थात् राक्षसी।

कोऊ नर नारिके मरणको न शोक करै,
कोऊ नारि नाथहूको याद नाहिं लावै है।
कोऊ निज नाथसों अनाथ भई रोवत है,
दारिद्की पीड़ी नित्य ताके गुण गावै है॥
कोऊ कछु काल कारबारीके वियोगथकी,
होयकै सचिंत्य गृहकारज बनावै है।
बीते दश वीस सौ पचास बरसन फेर,
दादाजीके दादाजीकौं याद हू न ध्यावै है॥२०॥

नारिनके खेत मत जाय काम हेत अहो,
चारितके साधनमें विघनको मूल है।
याहीको विश्वास करैं कारजको नाश होय,
जगतमें हास आवागमनको झूल है॥
तातैं तिहुँकाल तिहु जोगको सँभाल हूंढ़,
आगमको हाल जातैं मिटै भव शूल है।
नारिको विश्वास करैं मुकतिकी आस धरैं,
ऐसे जो अनारी ताके सीसबीच धूल है॥२१॥

होके व्रतवान करै देहको मँडान साध्यौ,
चाहै शिवथान धोयौ चाहै मनमैलको।
अंगको पखारै केशमूँछको सुधारै नित्य,
खायके तँबोल जाय बागनकी शैलको॥

---

१ श्रृंगार।

भोगै भोग सारे कहै त्याग है हमारे हम,
शुद्ध है सदीव करे मेला मोखगेलको ॥
लस्सुनकी पोथीमाहिं केसरको फूल ढूंढे,
कहो मीत सांचीको सँबोधे ऐसे बेलको ॥ २२ ॥

भोजनके काल मुनिराजनकी चाल अति,
मंद मंद ईरया गमन चित्त लावैं हैं।
देखिकै कमंडलुरु पीछीं कर साधुनको,
ठग और चोर मूढ़लोग यों बतावैं हैं ॥
मान अपमानको सँयोग उदै होय आय,
तौऊ संत उत्तम क्षमादि भाव भावैं हैं।
छुधा औ त्रिषादि सहैं आतम प्रसन्न रहैं,
समता सुधारस पी कालको वितावैं हैं ॥ २३ ॥

अंग और अनंग[1]के ममत्तसों विरक्त सदा,
होत हैं उदास भववासतें तपोधना[2]।
देव गुरु धरमकी करत विनै विधान,
ध्यानागनि जाल करैं चारितकी शोधना ॥
छाँड़ैं मोह भारी द्विधा ग्रंथ[3]की पिटारी सींचैं,
धरमकी क्यारी करैं भव्यनको बोधना ॥
शुद्ध ज्ञान धारैं भवजाल तोड़ि डारैं जाके,
ऐसे हों चरित्र सोई साधु और पोदना ॥ २४ ॥

---

१ कामदेव। २ तपही है धन जिनके ऐसे मुनी। ३ परिग्रह।

छप्पय।

मल्लिषेण मुनिराज कियौ, सज्जनचितवल्लभ।
चारवीस शुभ काव्य, साधुलच्छनकारि गल्लभ॥
पंडित जन सुनि बात, ज्ञान अंकुश कर धारैं।
दुर्जय इंद्रिय जीत, मनोगजकुंभ विदारैं॥
विषय किरातनसों बचैं, पार होंय भवबन विकट।
शिथिल करैं आठों करम, सहज होय शिवपुर निकट॥

दोहा।

नवशत एक हजारपर, बीस तीन धरि देह।
माधव सित आठैं अदिति, रची नैनसुख एह॥
यद्यपि मैं पिंगल पढ्यौं, पढ्यौं न चरचा ग्रंथ।
तातैं यह भाषारची, जानि सुलभ सुखपंथ॥